अध्याय - 4

आलोच्य काव्य नाटक - रंगमंचीय बोध

अध्याय - 4

आलोच्य काव्य नाटक - रंगमंचीय बोध

नाटक की सफलता की कसौटी रंगमंच है, क्योंकि रंगमंच पर ही वह सम्पूर्ण रूप में सामने आता है। वास्तव में रंगमंच नाटककार के मस्तिष्क की उपज है, जो नाटक की परिकल्पना का प्रथम सूत्रधार होता है। नाटक के सशक्त भाषा-विधान से उसे रंगमंचीय आयाम प्राप्त होता है। ऐसी प्रक्रिया में नाट्यभाषा दोहरे दायित्व का वहन करती है। नाटक की अर्थवत्ता के लिए जितना पद बंध वाक्यविन्यास आवश्यक होता है, उतना रंगमंच के लिए रंग निर्देश, अभिनेता की आंगिक चेष्टा, हावभाव, स्वरशैली, लय भी। वार्कर के शब्दों में - "भाषा रंगमंच में केवल शाब्दिक भाषा नहीं है। नाटककार को संवाद कार्य, रचनात्मक और क्रियात्मक शैली, तथा लिये गये विचार के विशिष्ट अंश के संदर्भ में सोचना चाहिए जिससे कि उसके प्रयोग द्वारा अपेक्षित प्रभाव उत्पन्न किया जा सके।"[1]

नाटककार की कल्पना रंगमंच के माध्यम से दर्शकों तक सम्प्रेषित होती है। इसी प्रमुख विशेषता के कारण उपन्यास, कहानी, लेख, कविता आदि विधाओं में नाटक का अपना अलग अस्तित्व होता है। और नाटककार की परिकल्पना दर्शकों तक किस सीमा तक सम्प्रेषित होती है, यह उसकी भाषा योजना पर निर्भर करता है। किसी भी नाटक के अभिनेय होने की सफलता का रहस्य सुस्पष्ट एवं बोधगम्य संवाद है। यही प्रमुख कारण है, कि नाटक की सर्जनात्मक भाषा को रंगमंच से अलग करके नहीं देखा जा सकता।

नाटक की संरचना का एक पहलू साहित्यिक है, और दूसरा दृश्यगत। किन्तु नाटक के साहित्यिक स्वरूप में दृश्यगत तत्व समाहित न हों तो उसके रंगमंचीय होने में शंका होने लगती है। नाटक को मूलतः दृश्यकाव्य कहा जाता है, और इसी नाते उसे रंगानुमिति अथवा रंग-संकल्पना का दायित्व भी निभाना जरूरी होता है। रंगमंच लिखित नाटक को जो दृश्य के आयाम देता है, वह शब्दों से कहीं अधिक जीवन्त होता है। नाटक का लिखित रूप वह प्रभाव नहीं पैदा करता जो उसका रंगमंचीय प्रदर्शन। इससे नाटक के साहित्यिक स्वरूप ही महत्ता किसी प्रकार कम नहीं होती, किन्तु नाटक केवल साहित्य नहीं और साहित्य होते हुए भी रंगीय उपेक्षाओं से कभी युक्त नहीं है। दृश्य या "वस्तुगत" ठोस रूपाकार के कारण नाटक मंच पर एक मानवीय जगत जैसी सृष्टि का आभास देता है। सर्जित नाट्य कृति को मंच पर सर्जन का पुनः सर्जन होने का अवसर मिलता हैं। नाटक मंच पर मूर्त है, जिससे नाटक एक जीवित और विद्यमान यथार्थ जैसे लगता है। नाटक रंगमंच की अपेक्षाओं की पूर्ति करे, इसके लिए आवश्यक है, उसकी रचना रंगमंच की रूढ़ियों के अनुकूल हो। इन रूढ़ियों के कारण भी नाटक केवल साहित्यिक रचना नहीं रह जाता। उसकी दृश्य सज्जा, दृश्यात्मक परिकल्पना पात्रों का प्रवेश और प्रस्थान, दृश्य परिवर्तन, सूच्य और दृश्य नाट्य सामग्री गति कार्य आदि कई ऐसे तत्व है, जिनका रंगमंच की दृष्टि से नाटककार को ध्यान रखना पड़ता है। नाटक किस प्रकार अभिनीत हो - इसका नाटककार अपने मन की अवधारणा में ध्यान रखे बिना दृश्य रचना कर ही नहीं सकता। नाटक में दृश्यत्व सबसे महत्त्वपूर्ण होता है। इसलिए उसकी सज्जा, और प्रस्तुति रंगदीपन और वेशभूषा सबको एक समग्र रंगानुभव का अंग बनना पड़ता है। इसी में पात्र की स्थिति, गति क्रिया के साथ उसका प्रवेश और प्रस्थान भी रंगसंरचना का महत्त्वपूर्ण अंग होता है। दृश्यत्व का लक्ष्य एक ऐसी मूल अपेक्षा है जिसके कारण रंगमंच साधन ही नहीं साध्य भी है। वस्तुतः रंग तत्व कोई ऊपर से थोपा गया उपादान नहीं है। वह नाटक का अंग है और वह स्वयं नाटक में उसकी संकल्पना में ही निहित होता है। रंगमंच का पूरा रचना विधान

नाटक के रचनातंत्र में ही निहित होता है, और वही शब्दों में सचेत स्थितियों चरित्रों और क्रिया व्यापारों के रूप में मंच पर दृश्य रूप प्राप्त करता है। जब हम नाटककार की रंग कल्पना की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य रंगमंच के स्थूल स्वरूप, दृश्य सज्जा, अभिनय, कार्य आदि से भी होता है। वस्तुतः रंगमंच अनुभूति भाव और विचार की आंतरिक संरचना से रचित सूक्ष्म वस्तु भी है। इसलिए कई विद्वानों को इस बात को स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं कि नाट्यानुभूति भी एक प्रकार से तीव्र काव्यानुभूति ही है, जो नाटककार से अमूर्त संवेदनाओं भावों और विचारों का ही नहीं बल्कि प्रत्यक्ष दृश्य और मूर्त रूपों का भी सर्जन करवाती है। वस्तुतः नाटककार को अपने रचना विधान में गहन भावात्मक स्तरों से विशेषरूप से जुडना पड़ता है, जिससे नाटक और रंगमंच की मिली जुली अनुभूति से वह अनुभूत जीवन का सहज बिम्ब उभार सके। रंगीय संकल्पना नाटक के आलेख और प्रस्तुति को नई शक्ति प्रदान करती है।

रंगमंच की दृष्टि से नाट्य संरचना का आधार क्या होना चाहिए, इस संबंध में कुछ सहमति और कुछ मतभेद के लिए पर्याप्त अवकाश है। युग की अपेक्षाओं की दृष्टि से इसके मानदंड बदलते रहते है। अरस्तु ने जब नाटक के तत्त्व निर्धारित किये थे, तब उन तत्त्वों की उपयोगिता थी। वे सब आज भी उतने ही उपयोगी रह गये हों, यह नहीं कहा जा सकता। फिर भी अरस्तु ने दृश्यता को जो महत्त्वपूर्ण स्थान दिया वह आज भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक युग में आकर विभिन्न वादों के दायरें में न जाने कितनी रंग संकल्पनाएं बनती और मिटती रही हैं। किन्तु कुल मिलाकर कई रंग तत्त्व सर्वदा मान्य रहे।

यही नहीं दृश्य सज्जा, रंगदीपन, सूत्राधार, नट-नटी, कोरस अभिनय शैली संवाद योजना कथावस्तु के नियोजन, दृश्य विभाजन आदि के संदर्भ में भी कई नई रंग-दृष्टियाँ उभरकर सामने आई। कहा जाता है, कि नाटककार रंगीय सामग्री मुहय्या करे रंग संकल्पना उसका काम है, और उसे मूर्त रूप मे रंगमंच पर उतारना रंगकर्मियों का। अभिनेता, दृश्य सज्जाकार, निर्देशक आदि भी अपनी जगह पर नाटक के सहयोगी सर्जक कलाकार होते है। परन्तु फिर भी नाटककार को दरेहरो

भूमिका निभानी पड़ती है। पहली दृश्य का शब्दों के द्वारा निर्माण और उनका क्रमिक निर्वाह और दूसरी देशकाल, कार्य और गति की मूर्त संकल्पना। मूलतः वह शब्दों से नाटक का ढांचा खड़ा करता है, किन्तु उन्हीं से शब्देतर माध्यम को भी उभारता है, जिसमें अभिनय की आंगिक चेष्टाओं, हावभाव कार्यों और गतियों का विशेष हाथ होता है।

साहित्य के क्षेत्र में कविता, कहानी, उपन्यास आदि का संप्रेषण मुख्यतः आज मुद्रण के द्वारा होता है। किन्तु जहाँ तक नाटक का सवाल है, उसके संप्रेषण का अपना एक अलग ढंग है, जो अन्य विधाओं से बिल्कुल भिन्न है। नाटक रंगमंच के माध्यम से ही सम्प्रेषित होता है। यही वैशिष्टय उसे अन्य साहित्य विधाओं से अलग खड़ा कर देता है। भरत ने नाट्य शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थों में किया है, जिसमें नाट्यकृति, रंग, शिल्प, मंच सभी कुछ उसके अंतर्गत माना जाते हैं। जब इन्द्र आदि देवता ब्रह्मा के पास गये तो उन्होंने नाटक पढ़ने के लिए नहीं वरन् खेलने के लिए मांगा था : कीडनीयकमिच्छामों दृस्यं श्रव्यं च यद् भवित। नाटक की साहित्यिक मूलवत्ता निश्चयतः अपना महत्त्व रखती है, किन्तु उसके उद्भव और विकास में साहित्यिक वैशिष्ट्य कभी भी अनिवार्य तत्व नहीं रहा। ऐसा इसलिए क्योंकि नाटक एक दृश्यकाव्य है, और उसकी प्रवृत्ति ही ऐसी है। यह एक ऐसी विधा है जिसमें शब्द की अपेक्षा दृश्यत्व और कार्य व्यापार मुख्यता ग्रहण कर लेता है। इसमें अनुकरण और पूर्व क्रिया को दुहराने की प्रवृत्ति भी शामिल है। मानवीय क्रिया-कलाप में वस्तुतः नाटक से भी पहले रंगमंच विद्यमान था। नाटक ने रंगमंच पर ही पूर्णता और रूप प्राप्त किया है। नाट्यकृति के सम्प्रेषण के लिए रंगमंच नामक यंत्र सर्वथा आपेक्षित है।

रंगमंच मानव को सर्जन प्रवृत्ति का क्रीड़ा-रूप है। बाह्य जगत के बीच अपने रचे संसार में जीवन को अनुभूत करने, उसे पुनः रचने का मूलभाव मनुष्य में निरंतर निवास करता है। यह मूलभाव ही उसे और उसके निर्मित रंग

संसार को अनुभूति से जोड़ देता है। यहां रंगमंच कोई स्थूल वस्तु न रहकर एक भाव, एक अनुभूति बन जाता है।

रंगमंच नाटक के सम्प्रेषण का एक माध्यम हैं, पर वह संप्रेषण सीधा नहीं संवेदनात्मक है। रंग मंच भावों को अभिव्यक्त और सम्प्रेषित करता है - उन सब भावों को जो चेतना को स्पंदित करते हैं और ऐन्द्रिय संवेदनों को जगाते है। क्रोध, घृणा, भय प्रेम के बहुत से सूक्ष्म संवेदन जो काव्य और साहित्य की अन्य विधाओं द्वारा अनकहे, रह जाते हैं वे भी रंगमंच पर साकार हो उठते है, और प्रेक्षक में भी समान अनुभूति जगाने में सक्षम सिध्द होते हैं। तभी हावभाव. मुद्रा तथा भंगिमा के द्वारा रंगमंच जीवन की गहरी अनुभूति कराता है।

नाटककार की अपनी अनुभूति उसे नाट्यकृति की सर्जना की ओर ले जाती है और रंगमंच भी अपने सर्जन में एक प्रकार से उसी अनुभूति को प्रेक्षकों तक पहुंचाने का माध्यम बनता है। पर प्रेक्षक में अनुभूति जगाने से पूर्व वह स्वयं रंगकर्मियों की अनुभूति बनता है। इस प्रकार रंग कर्म स्वयं एक अनुभूति है और रंगमंच एक अनुभूत जीवन का स्वपनिल बिम्ब प्रस्तुत करता है। मंच पर दृश्य बंध, अभिनय, प्रकाश सब उसी एक अनुभूति से जुड़ जाते हैं, और एक पेसी बिम्बों की पांत खड़ी कर देते हैं, जो जीवन की अपने में एक पूरी तस्वीर रचकर रख देते हैं।

अनुभूति केवल अनुभूत विषयों या पदार्थों का ढेर नहीं है, वह एक प्रकार का संरचनात्मक उपादान भी है, वस्तुतः अनुभूति ही भावों और बिम्बों को रूप देती हैं, कृति को एक ढांचा प्रदान करती है, और फिर वस्तु रूप में कृतिकार के सामने खड़ी हो जाती है। नाटककार अपनी शब्दार्थमयी योजना से प्रसंगों, पात्रों, स्थलों, स्थितियों और अनुभवों की परिकल्पना करता है। इस परिकल्पना में उसकी अपनी अनुभूति का तत्व सक्रिय रहता है, किन्तु उसकी यह अभिव्यक्ति आत्मपरक नहीं होती। नाटकीय अनुभूति को नाट्य रूढ़ियों की सीमा के अंदर ढलना पड़ता है। इसके, अतिरिक्त अनुभूति के लिए भोगा हुआ यथार्थ

ही एकमात्र तत्त्व नहीं - कल्पना भाव-प्रवणता, संवेदनशीलता, युगबोध, सभी उसके उपकरण है जिन्हें नाटककार अपने सर्जन के लिए जुटाता है। नाटककार कथावस्तु चरित्र और कार्य के माध्यम से अनुभूति को वस्तुपात वास्तविकता प्रदान करता है। इस प्रक्रिया में उसका मुख्य उद्देश्य यही होता है, कि प्रेक्षक उसके बीच से गुजर सके। जैसा वह स्वयं अनुभव करता है, प्रेक्षक भी वैसा ही अनुभव करे। नाटक की सार्थकता भी इसी में है। और रंगमंच की पूर्णता इस बात में है, कि वह आंतरिक तत्त्व को बाह्य रूपांतर प्रदान करता है। वह अदृश्य और अश्रव्य को दृश्य और श्रव्य रूप देता और इसी बिन्दु पर रंगमंच एक सृष्टि बन जाता है।

एक साहित्यिक कृति के रूप में नाट्यलेख क्योंकि सम्पूर्ण नाट्ययात्रा का केवल एक आयाम है, इसलिए नाटक की पहचान के लिए हम साहित्यिक मानदंडों का इस्तेमाल नहीं कर सकते। नाटक की पहचान के लिए हमें रंगमंचीय धरातल की ओर ही प्रयाण करना पड़ेगा और रंगमंचीय सूत्रों के आलोक में ही नाटक की अर्थवत्ता खोजनी पड़ेगी। नाटक की अभिव्यक्ति की पूर्णता का आयाम रंगमंच ही है। अतः नाटककार नाटक की रचना करते समय अपने समकालीन रंगमंच का, या उस रंगमंच का खाका कल्पना में रखता है, जहाँ उसका नाटक पुनर्प्रस्तुत होकर प्रेक्षकों की आशंसा का कारण बनेगा।

एक नाटककार की रचना प्रकिया में रंगमंच वैसे तो अपनी सम्पूर्णता में उद्घाटित होता है, फिर भी नाटककार को यह देखना पड़ता है, कि वह अपनी हद से निकलाकर रंगमंच की सीमा में कही अनपेक्षित हस्तक्षेप तो नहीं कर रहा। अपनी कल्पना में नाटक को पुनर्प्रस्तुत करते समय भी उसे ध्यान रखना पड़ता है, कि वह कुछ निर्देशक के लिए भी छोड़े जो उसका अभिप्रेत है। अधिक रंगसंकेत, वेशभूषा, साज सज्जा, मंचीय विधान, प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि संगीत. दृश्य बंध, अभिनेताओं की गति हरकत हावभाव आदि के बारे में संकोच रखना चाहिए।

"अंधाकुआँ" में श्री लाल, रंग संकेत संबंधी जो निर्देश दिये हैं, वे नाटक की आवश्यकता है, जो कथानक को दिशा देते हैं, किन्तु फिर भी निर्देशक के लिए काफी कुछ छूट जाता है, जिसे वे अपनी तरह से प्रस्तुत कर सकते हैं।

§भगौती चुपचाप चौखट के बाएं गोठे पर बैठ जाता है।§

भगौती को पकड़े हुए मिनकू उसे दूर हटा ले जाते हैं और उसके हाथ का गंडासा छीन लेते हैं। अंधायुग में भी -

अश्वत्थामा आक्रमण करता है। गला दबोच लेता है।

कृतवर्मा और कृपाचार्य प्रवेश करते हैं।

कृतवर्मा के बंधन में छटपटाता हैं, आदि रंग निर्देश, निर्देशक की सहायता ही करेंगे, उसकी क्रियापध्दति में अडंगा नहीं डालेंगे।

साज सज्जा, वेशभूषा संबंधित किसी प्रकार के निर्देश दोनों ही कृतियों में उपलब्ध नहीं है। जो निर्देशक की कल्पना को विस्तृत आयाम देते हैं। अंधाकुआँ की परिणिति तो ग्रामीण आंचल से हटकर संभव ही नहीं, किन्तु अंधायुग वैसे तो महाभारत की युध्द स्थितियों के कथासूत्रों को लेकर चलता है। महाभारत काल में कैसी वेशभूषा का इस्तेमाल किया जाता था इसके कोई चाक्षुष दस्तावेज हमारे पास उपलब्ध नहीं है। इसलिए निर्देशक कथानक में अपनी कल्पना के रंग भरने के लिए स्वतंत्र है। और कल्पनाशील निर्देशकों ने अपनी अपनी कल्पना के दार वेशभूषा में प्रतीकात्मक परिवर्तन भी किये है। इसे यथार्थवादी शैली, काबुकी शैली, लोक शैली आदि में प्रस्तुत किया जा चुका है। इब्राहिम अल्काजी ने पुराने किले के खंडहरों में जहाँ इस नाटक को राजसी वेशभूषा में प्रस्तुत किया, रोब बासवानी ने वहीं इसकी सीधी सादी किन्तु सफल प्रस्तुति की। मंच सज्जा के नाम पर प्रतीक रूप में पिछली दीवार पर काल के प्रतीक रथचक्र को लगा दिया था, और वेशभूषा के नाम पर नंगे बदन पात्रों को काली पैंट पहना दी गयी

थी। उनके चारित्र्य के अनुरूप अंधे क्रोध और प्रतिशोध, अंधी तटस्थता और प्रतिबध्दता, अनास्था और निराशा, ममता और घृणा को प्रतीकात्मकत ढंग से व्यंजित करने के लिए पात्रों के माथे पर लाल, सफेद, काली और सुनहरी पट्टियाँ बांध दी गयी थी। इसी तरह अंधायुग के मणिपुरी रूपांतर में रतन कुमार थियम ने मणिपुरी पारंपरिक वेशभूषा का इस्तेमाल किया।

प्रकाश व्यवस्था संबंधी निर्देश अंधाकुआँ में अंक विभाजन के लिए दिये गये हैं। यह प्रकाश व्यवस्था संबंधी निर्देश मंच सज्जा परिवर्तन में सहायक ही हुए है। अंधायुग में अंतराल में एक प्रकाश व्यवस्था संबंधी विशेष निर्देशन है, जो दृश्य को प्रतीकात्मक बनाने के उद्देश्य से दिया गया है।

वृध्द याचक प्रवेश करता है। स्टेज पर मकड़ी के जाले जैसी प्रकाश रेखाएं और कुछ कुछ प्रेतलोक सा वातावरण। यहाँ प्रकाश और छाया के कलात्मक प्रयोग द्वारा विभिन्न आभास पैदा किया गया है। जो लेखक की कल्पनाशीलना का परिचायक है। और इसे अतिरिक्त प्रकाश व्यवस्था संबंधी निर्देश अंक परिवर्तन दृश्य परिवर्तन हेतु दिये गये हैं। अपने निर्देश में नाटककार ने प्रकाश-व्यवस्था में मात्र अत्याधिक सतर्क रहने का अनुग्रह किया है। अंधायुग में कहीं कहीं शिल्पगत संरचना के अनुसार प्रकाश का प्रयोग नाटक के प्रस्तुतीकरण में आवश्यक है। अतः उसके निर्देश दिये गये है।

संजय ध्यान कर रहा है, और दृष्टि मार्ग में आने वाली बाधाओं को दूर होने और दृश्यों को निकट आने का निमंत्रण देता है। और फिर दृश्य उपस्थित होता है, उस स्थल का जहाँ मरणासन्न दुर्योधन कल तक पड़ा था, और उस स्थल पर अंधेरे को दूर करने के लिए कृपाचार्य कृतवर्मा से ज्योति बाण फेंककर तिमिर को घटाने का आग्रह करते हैं, इसके पूर्व ही प्रकाश बुझने के संकेत दिये गये हैं।

ध्वनि संबंधी निर्देश, अंधा कुआं में कहीं कहीं दृश्य की मांग पर दिये गये है, जैसे नाटक के आरम्भ में भगौती घर के अंदर सूका की पिटाई कर रहा है, इसलिए पृष्ठभूमि में कुछ गिरने, टूटने, रोने, चीखने, फटकारने, चीख रुदन आदि संबंधी निर्देश है, जो सहज और स्वाभाविक बन पडे है।

अंधायुग में आंधी की ध्वनि और पंखों की ध्वनि सांकेतिक रूप में प्रयुक्त हुए है, जो युध्द की विभीषिका एक अपशकुन के रूप में चित्रित की गई है। यह उन नरभक्षी गिध्दों के कौरव नगरी पर आक्रमण के भयानक दृश्य की रचना करने के लिए सांकेतिक रूप में प्रयुक्त किया गया है। तीसरे अंक के अंत में रथों की घर्घराहट और घोड़ों की टापों संबंधी ध्वनि निर्देश दिये है। इसके अलावा सियारों का रोदन, पशुओं के भयानक स्वर, घंटियों की ध्वनियों, शंखनाद, लगातार विस्फोट, ज्वालामुखियों की सी गड़गड़ाहट, भयानक वार्तालाप, वंशी ध्वनि द्वारा अंधा युग में विभिन्न प्रभावों की सृष्टि की गई है।

संगीत आरम्भ से ही नाटक और रंगमंच का लगभग एक अनिवार्य अंग रहा है। नाटकों में संगीत का उपयोग दृश्य योजना के लिए भी किया गया है। अंधा कुआं में लोक धुनों पर आधारित गीतों का प्रयोग है, जो सिर्फ शब्द नहीं भाव बिम्ब की रसानुभूति के गहरे सागर मे डुबों देते हैं।

केहुना सुनी पुकार
हिरनी तब कुंअंना गिरी
तुहिं राखों यहि बार
विरनि गोसाई कुअंना

हर अंक का प्रारम्भ गीत संगीत के द्वारा ही हुआ है, जो दृश्य योजना में सहायक प्रतीत होते हैं। दृश्य परिवर्तन के समय कथागायन की योजना लोकनाट्य परम्परा से ली गई है। कथानक की जो घटनाएँ मंच पर नहीं दिखाई जा सकती, उनकी सूचना देने, वातावरण की मार्मिकता की ओर गहन बनाने या कहीं कहीं

उसके प्रतीकात्मक अर्थों को भी स्पष्ट करने के लिए यह कथागायन की इस पध्दति को अपनाया गया है। अंधायुग में भी लगभग हर दृश्य की समाप्ति पर सार्थक कथा गायन का विधान किया गया है।

नाटककार की रंगमंचीय अभिज्ञा की सम्पन्नता अथवा दरिद्रता का मुख्य पता इस बात से भी चलता है कि नाटक के लिखित पाठ को प्रस्तुति पाठ में रूपांतरित करने के लिए उसने कितने और किस प्रकार के रंग संकेतों से काम लिया है। वे रंग संकेत प्रायः कोष्ठकों में या अन्य संवादेतर स्थलों पर समायोजित होने के कारण नाट्य रचना के बाह्य धर्म का आभास देते हैं, लेकिन वास्तविकता यह है, कि इनका उद्‌भव नाटककार की आभ्यंतर रंग प्रक्रिया के स्तर पर होता है। इनके माध्यम से एक तो नाटककार वह सब कुछ कह जाता है, जिसे संवादों की पाबंदी में बंधकर नहीं कहा जा सकता और दूसरे ये उसकी अभिव्यक्ति के पेसे कूट होते हैं जिनसे नाटक की तमाम अशाब्दिक भाषा बनती और खुलती है। ये रंग-संकेत मूल नाट्य संरचना का अविभाज्य हिस्सा होते हैं, और रंगकर्मियों को नाटक की प्रस्तुति में नाट्यानुभूति को समझने में सहायक होते हैं।

दृश्य संबंधी रंग संकेत, अंधा कुआं में बहुत कम दीख पड़ते हैं, जब कि अंधायुग में दृश्य योजना हेतु मात्र पर्दे संबंधी निर्देश दिये गये हैं। अभिनय संबंधी रंग संकेतों के प्रति नाटककार अत्याधिक जागरूक है। अंधा कुआं में अभिनय संबंधी रंग निर्देश अधिक प्राप्त हैं। भगौती चुप है, वह सिर के अंगोछे को खोलकर अपने मुख का पसीना पोंछने लगता है।

उपेक्षा से रूककर देती हुई, दिखाता हुआ, एक क्षण रूककर जाना हुआ, बीच में, हंसता है, सोचती है, गुस्से से सिसकती हुआ, जैसे निर्देश भी देने से लेखक नहीं चूके है। अंधायुग में पात्रों के प्रवेश करने और रंगमंच से जाने के निर्देशन अधिक मात्रा में उपलब्ध है।

विवशता, आवेश, चिंता, भय, पीड़ा, छटपटाहट, घायल अवस्था उपेक्षा, कटुता, निश्चलता, आकुलता, व्यंग्य, मूर्छा, जड़ता, लड़खड़ाहट, स्तब्धता विकट, अट्टाहास, वार्तालाप, प्रतिशोध, आश्चर्य आदि जैसे मनोभावों से संबंधित रंग संकेत दिये गये हैं।

इन सभी रंग संकेतों की विशेषता है, कि ये, रंग संकेत नाटक की लेखन से प्रस्तुती तक की सम्पूर्ण मात्रा में आजमाइश की प्रक्रिया से गुजरते हैं क्योंकि वर्तमान नाटककारों के लगभग महत्त्वपूर्ण नाटक प्रकाशित होने से पूर्व मंचन की प्रक्रिया से गुजर चुके होते है। इसलिए पात्रों के अभिनय में गवाह बनकर प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया में शामिल होकर रंग संकेतों को मंचन की सार्थकता के अनुसार बदलने में नाटककार बहुत कुछ जो शब्दों और संवादों के माध्यम से नहीं कह पाता, उसके लिए वो रंग संकेत की भाषा का इस्तेमाल करता है। इस तरह इनकी सार्थकता नाट्यानुभूति को सम्पूर्णता प्रदान करने में निहित रहती है।

नाट्यकला ही एक ऐसी कला है, जो दृश्य और श्रव्य दोनों हैं, जो प्रेक्षकों के समक्ष विक्काल में जीवनानुभूति को नाट्यानुभूमि में निरूपित कर रंगमंचीय उपादानों के सत्य प्रस्तुत करती है। इसलिए यह अति आवश्यक है, कि जीवनाभुति जिस जीवन की है, उस जीवन को सही सही पकड़ पाने के लिए वैसी ही भाषा भी हो। जैसे जैसे जीवन जटिल होता जाता है, उसे अभिव्यक्त कर सकने वाली सर्जनात्मक भाषा की आवश्यकता महसूस होने लगती है। रूसी नाटककार आर्बुजोफ से हुई बातचीत में उन्होंने अपने मत को विस्तार से रेखांकित किया था - "रंगमंच की शब्द निर्भरता का अर्थ रंगमंच में शब्द की आधारभूत भूमिका है। इस भूमिका का निर्वाह माध्यम सीमाओं में शब्दों के संयम से हो सकता है। उनके अतिरिक्त तथा अनपेक्षित प्रयोग से नहीं। शब्दों की बाढ़ से या बिना नाटकीय प्रयोजन से प्रयुक्त शब्दों से, रंग सिध्दि संभव नहीं क्योंकि बिम्ब को जन्म देने के साथ साथ उस बिम्ब से संयोजित रहने की संभावना भी शब्दों में होनी चाहिए।" नाट्यभाषा का यह चिंतन जिनमें लिखित शब्द

केवल अभिधार्थ व्यक्त नहीं करता, अंधा कुआं, और अंधा युग दोनों ही नाटकों में फलित हुआ देखा जा सकता है, जहाँ भाषा की हरकत भरी खूबी स्थिति की अर्थवत्ता को ग्रहणकर और प्रभावशाली बना जाती है। ध्वनि, लय, संकेत एवं उच्चार से बंधकर भाषा नये नये अर्थों को उद्‌घाटित करने लगती है।

"ध्वनि" का एक विशेष अर्थ और है "गूंज"। क्या ध्वनित हो रहा है, कभी कभी अलग होता है उससे जो कहा जा रहा है। अर्थात् सीदे सादे ढंग से कही गई सरल बात, प्रसंगानुसार विशेष अर्थ धारण करती है। कही गई सामान्यार्थ बात अपने अंदर अर्थ की व्यापकता समेटे रहती है। इस प्रकार के दोनों प्रयोग दोनों नाटकों में उपलब्ध यहाँ "ध्वनि" के माध्यम से सौन्दर्य उत्पन्न किया है।

सूका - हां हां ले मार। ले मार गंडासा से। मार ना।

सूका - बुला लावो गांव को सुन ले इसकी बात। सब सुन लें।

दोनों ही प्रकरणों में अर्थ विपरीत है। पहले अर्थ में सूका इस तरह अपमानित प्रताड़ित नहीं होना चाहती फिर भी उसे चुनौती के रूप में मारने के लिए आमंत्रित कर रही है और दूसरी स्थिति में वह लोगों को बुला रही है, उसकी बात सुनाने को जबकि सुनाने के लिए भगौती के पास कुछ है नहीं। सब अत्याचार तो सूका पर हो रहे हैं।

वहाँ गांधारी का युयुत्सु को सांत्वना देना ऐसा ही कुछ बन पड़ा है।

बेटा
भुजाएँ ये तुम्हारी
पराक्रम भरी
थकी तो नहीं
अपने बंधुजनों का
वध करते करते

ध्वनि की तरह शब्दों की लय भावांतर के लिए उत्तरदायी होती है। विभिन्न मनःस्थितियों परिस्थितियों भावनात्मक अवस्थाओं में वाक्यों की लय विभिन्न होती है।

अंधा कुआँ के वाक्य छोटे और एक सामान्य गति का निर्वाह करते चलते हैं, किन्तु दृश्य की माँग पर वे अति संक्षिप्त हो चले हैं और उनकी लय बढ़ गई है।

मगौती - टांग तोड दूंगा एक एक की। लोग समझते क्या है। भगौती का गुस्सा नहीं जानते। कौन है उधर? कौन है?

सूका - पहले तो सभी अच्छे होते हैं। पर जब सच्चाई सामने आती है-

राजी - दीदी की बातों का बुरा न मानना।

हीरा - कभी नहीं। दीदी को मानता हूँ।

सूका - लच्छी से प्यार करते हो। प्यार माने?

हीरा - जिम्मेवारी

सूका - और

हीरा - सदा उसकी रक्षा करना

सूका - और

हीरा - उसी के साथ जीना और मरना

सूका - मरना क्यों? जियो जुग जुग जियो।

अंधा युग में प्रहरियों के माध्यम से कौरवनगरी और उसकी दुर्दशा का वर्णन कराया गया है। अलग अलग स्थितियों के अनुसार उनके वाक्यों की लय परिवर्तित हुई है, जो लय, उत्सुकता आदि भावों को सफलता पूर्वक दर्शाती है।

प्रहरी 1 - लो सारी कौरव नगरी
का आसमान
गिध्दों ने घेर लिया

प्रहरी 2 - झुक जाओ
झुक जाओ
ढालों के नीचे
छिप जाओ
नरभक्षी हैं
ये गिध्द भूखे हैं

प्रहरी 1 - अपशकुन तो निश्चय ही
होते है रोज रोज

प्रहरी 2 - आंधी से कल
कंकड पत्थर की वर्षा हुई

प्रहरी 1 - कैसा यह असमय अंधियारा है।

प्रहरी 2 - घूम्रमेघ घिरते जाते है - वन खंडो से

अंततः यह स्पष्ट होता है कि अभिनेय या मंचीय नाटक के लिए साधारणतया इन गुणों की आवश्यकता होती है - नाटक की कथावस्तु सरल संक्षिप्त उसके पात्रों की संख्या कम सभी पात्रों को अभिनय की दृष्टि से उचित अवसर संभव तथा रुचिकर घटनाएँ, रंगमंच सज्जा के लिए अंको तथा दृश्यों की योजना व्यवस्थित, हास्य तथा व्यंग्य का पुट भाषा तथा संवाद योजना संक्षिप्त सरल सरस सजीव सुबोध, रोचक प्रवाहमयी, यथार्थपरक पात्रानुकूल देशकाल तथा वातावरण

के अनुरूप चित्रात्मकता पैदा करने वाली नाटकीय कार्य व्यापार व्यवस्थित करने वाली होनी चाहिए। दोनों ही आलोच्य नाटकों अंधा कुआं और अंधा युग के भाषा सौन्दर्यी एवं रंगमंचीय बोध से हमे पता चलता है, कि अपनी विभिन्नता में भी दोनों नाटक में उपरोक्त लगभग सभी गुण विद्यमान है। और यहीं विशेषतायें इन दोनों नाटकों को रंगमंचीय सफलता प्रदान करती है।